International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ तथा संस्कार व्यवस्था

प्रो- (डॉ-) रीता देवी सिंह

राजकीय महाविद्यालय, धौलपुर (jkt-)

सारांश

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था अंतर्निहित धर्म संहिता द्वारा संचालित है। यह संहिता वर्ण-आश्रम-धर्म के मूल सिध्दान्त के माध्यम से परिलक्षित होती है। जहाँ वर्ण समाज के विभाजन से संबधित है, वही आश्रम जीवन के चार चरणों में प्रशिक्षण और जीवन जीने की प्रकृति से संबंधित है। पुरुषार्थ में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की अवधारणाऐं शामिल है। सनातन धर्म में गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक 16 संस्कार होते है। अच्छे गुणों अथवा कर्मों का बीजारोपण भी संस्कार कहलाता है।

कुंजी शब्दः- वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, संस्कार, धर्म, हिन्दू, समाज।

हिन्दू सामाजिक संगठन में वर्णाश्रम व्यवस्था का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है । इसके अन्तर्गत दो प्रकार के संगठन थे- वर्ण तथा आश्रम । इनका सम्बन्ध मनुष्य की प्रकृति तथा उसके प्रशिक्षण से था और इस प्रकार ये हिन्दू सामाजिक संगठन के आधार स्तम्भ हैं । प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने वर्ण व्यवस्था का विधान समाज की विभिन्न श्रेणियों के लोगों में कार्यों का उचित बँटवारा करके सामाजिक संगठन बनाये रखने के लिये किया ताकि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करते हुए आपसी मतभेदों एवं वैमनस्य से मुक्त होकर अपना तथा समाज का पूर्ण विकास कर सके ।यह सामूहिक पद्धति से व्यक्ति के उन्नति की योजना है जो भारतीय समाज की अपनी व्यवस्था है । इसके द्वारा व्यक्ति परिवार, समुदाय, समाज तथा देश के प्रति अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करता था । इसके द्वारा समाज में एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होता था तथा वर्ग-संघर्ष एवं उच्छृङ्खल प्रतिस्पर्धा की संभावना समाप्त हो जाती थी ।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति

'वर्ण' शब्द संस्कृत की 'वृ' धातु से निकला है जिसका शाब्दिक अर्थ वरण करना या चुनना है । इस प्रकार इससे तात्पर्य वृत्ति अथवा व्यवसाय-चयन से है । वर्ण का एक अर्थ रंग भी है तथा इस अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है ।

ऋग्वेद में इसका प्रथम प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है जहाँ आर्यों ने अपने को श्वेत वर्ण तथा दास-दस्युओं को कृष्णवर्ण का बताया है । कालान्तर में यह शब्द वृत्ति का सूचक वन गया तथा व्यवसाय के आधार पर समाज में वर्णों का विभाजन किया गया । तत्पश्चात् उनमें कठोरता आई तथा व्यवसाय के स्थान पर जन्म को आधार मान लिया गया जिसके फलस्वरूप वर्ण जाति में परिणत हो गये ।

प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति सम्बन्धी विविध उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें सर्वप्रथम इसे दैवी व्यवस्था मानने का सिद्धान्त है जिसका प्रतिपादन ऋग्वेद, महाभारत, गीता आदि में मिलता है । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चारों वर्षों को विराट पुरुष के चारों अंगों से उत्पन्न कहा गया है । तदनुसार उसके 'मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई ।' चातुर्वर्ण व्यवस्था का यह प्राचीनतम उल्लेख है । यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक संगठन एक शरीर के रूप में कल्पित किया गया है जिसके विभिन्न अंग समाज के विविध वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

मुख वाणी का स्थान है, अत: ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानव जाति के शिक्षक के रूप में हुई । भुजायें शौर्य एवं शक्ति का प्रतीक है, अत: क्षत्रिय का कार्य हथियार ग्रहण करके मानव जाति की रक्षा करना है । जंघा शरीर के निचले भाग का प्रतिनिधि है ।

समस्त शरीर को धारण करने का भार जंघों पर ही टिकता है । इससे तात्पर्य संभवतः उस भाग से हो सकता है जो शरीर का पोषण करता है, अत: वैश्य की उत्पत्ति मानव जाति को अन्न प्रदान करने अथवा पोषण करने के लिये है ।

यह बात इससे भी स्पष्ट है कि प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कृषिकर्म का अधिकार वैश्यों को ही था । वे आर्थिक सम्पत्ति के स्वामी थे । पैर शरीर के भारवाहक हैं, अत: शूद्र की उत्पत्ति समाज का भारवहन करने अर्थात् अन्य वर्णों की सेवा करने के निमित्त हुई है ।

ऋग्वेद की वर्णविषयक अवधारणा श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें प्रत्येक वर्ण के कार्य का महत्व है । इसे दैवी आधार प्रदान करने के पीछे यह मान्यता रही कि ईश्वर की शक्ति से डरकर सभी इसके अनुसार आचरण करेंगे तथा कोई भी इसके उल्लंघन करने का साहस नहीं करेगा ।

ऋग्वेद के उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन महाभारत, गीता, पुराण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है । महाभारत में विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा की कल्पना की गयी है तथा उसके विविध अंगों से चारों वर्षों की उत्पत्ति बताई गयी है ।

शान्तिपर्व के अन्तर्गत यह उल्लेख प्राप्त होता है जहाँ बताया गया है कि- 'ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघे से वैश्य तथा तीनों वर्षों की सेवा के लिये पैर से शूद्र की रचना हुई ।' गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं को चारों वर्णों का कर्ता तथा विनाशक बताया है । मनुस्मृति तथा पुराण भी वर्ण

व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं । मनु के अनुसार- 'ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिये मुख, बाहु, ऊरु तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि की ।'

पुराण ब्रह्मा के स्थान पर विष्णु को इस व्यवस्था का जनक मानते हैं । विष्णु पुराण में भी वर्ण व्यवस्था की दैवी उत्पत्ति को स्वीकार करते हुए बताया गया है कि भगवान विष्णु के मुख, बाहु, जंघे तथा पैर से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई । मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड आदि कुछ अन्य पुराणों में भी इसी प्रकार का विवरण प्राप्त होता है ।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त आधुनिक परिप्रेक्ष्य में तर्कसंगत नहीं लगता । प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्ण का सम्बन्ध देवता की अपेक्षा गुण तथा कर्म से अधिक था । वस्तुतः कर्म ही इस व्यवस्था की उत्पत्ति में प्रधान तत्व प्रतीत होता है ।

गीता में कृष्ण ने बताया है कि 'चारों वर्णों की उत्पत्ति गुण तथा कर्म के आधार पर की गयी है ।' गुण तीन कहे गये हैं- सतोगुण (सत्य), रजोगुण (रज) तथा तमोगुण (तम) । सतोगुण ज्ञान, रजोगुण राग (आसक्ति) तथा तमोगुण अज्ञान अथवा अंधकार का सूचक बताया गया है ।

प्रत्येक प्राणी में प्रकृति के अनुसार कोई न कोई गुण अवश्य विद्यमान रहता है (गुणा: प्रकृति संभवा:) । अत: जिसमें सत्व की प्रधानता है वह ब्राह्मण, रज की प्रधानता है क्षत्रिय रज तथा तम की प्रधानता है वह वैश्य तथा जिसमें केवल तम की प्रधानता है वह शूद्र होता है ।

चातुर्वर्ण की उत्पत्ति विषयक कर्म का सिद्धान्त सबसे महत्वपूर्ण है । ऋग्वेद से पता चलता है कि समाज में केवल दो वर्ण थे- आर्य वर्ण तथा दास वर्ण । कालान्तर में कर्मों के आधार पर इनके विभेद हुए । जब आर्य भारत में बस गये तो उन्होंने भिन्न-भिन्न कर्मों के आधार पर विभिन्न वर्गों का विभाजन किया ।

जो व्यक्ति यज्ञादि कर्म कराते थे उन्हें 'ब्रह्म', जो युद्ध में निपुण थे तथा लोगों को सुरक्षा प्रदान करने में समर्थ थे उन्हें 'क्षत्र' (क्षत्रिय) नाम दिया गया । शेष जनता को 'विश्' कहा गया । वर्ण व्यवस्था का यह प्रारम्भिक स्वरूप था । कालान्तर में 'शूद्र' नामक चौथा वर्ण इसमें जोड़ दिया गया ।

ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पुरुषसूक्त में सर्वप्रथम इस वर्ण का उल्लेख मिलता है । प्रारम्भ में विद्वानों का विचार था कि आर्यों ने यहाँ के निवासियों को पराजित कर दास बना लिया तथा उकिन्तु इस प्रकार का विचार तर्कसंगत नहीं लगता । रामशरण शर्मा ने शूद्रों की उत्पत्ति के ऊपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए मत व्यक्त किया है कि वस्तुतः इस वर्ग में आर्य तथा अनार्य दोनों ही वर्गों के व्यक्ति सम्मिलित थे । आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं ने दोनों ही वर्गों में श्रमिक वर्ग को जन्म दिया ।

बाद में सभी श्रमिकों को 'शूद्र' कहा जाने लगा । आर्य शिल्पियों के अनेक वंशज, जो अपने प्राचीन व्यवसाय में ही लगे रहे, भी शूद्र समझे जाने लगे । अथर्ववेदिक काल के अन्त में शूद्रों को समाज के एक वर्ग के रूप में मान्यता मिल गयी ।

महाभारत के शान्तिपर्व तथा कुछ पुराणों में भी वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति में कर्म की महत्ता स्वीकार की गयी है । महाभारत के अनुसार पहले समाज में केवल ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ही अस्तित्व था, बाद में कर्मों की विभिन्नता के कारण अन्य वर्ण उत्पन्न हो गये ।

वर्ण व्यवस्था का विकास (Development of Charter System):

ऋग्वैदिक समाज में प्रारम्भ में केवल तीन वर्ण थे- ब्रह्म, क्षत्र तथा विश । इस काल के अन्त में हम शूद्र वर्ण का उल्लेख पाते हैं । इस समय विभिन्न वर्णों के व्यवसाय खान-पान, विवाह आदि के ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की वृत्ति अपना सकता था ।

इस समय तक वर्णों में कठोरता नहीं आने पाई थी । ऋग्वेद में एक स्थान पर एक ऋषि कहता है- 'मैं कवि हूँ । मेरा पिता वैद्य है तथा मेरी माता अन्न पीसने का कार्य करती है । साधन भिन्न है किन्तु सभी धन की कामना करते हैं ।'

इससे स्पष्ट है कि एक ही परिवार के व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यवसाय ग्रहण कर सकते थे । इसी प्रकार विभिन्न वर्णों के बीच खान-पान एवं अन्तर्विवाह के ऊपर भी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था । वस्तुतः ऋग्वैदिक समाज की वर्ण व्यवस्था उन्मुक्त थी । यह जन्म अथवा वंश पर आधारित न होकर व्यक्ति के गुण और कर्म पर ही आधारित थी ।

उत्तर वैदिक काल तक आते-आते समाज में चारों वर्णों की स्पष्टतः प्रतिष्ठा हुई । इस समय ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद आदि ग्रन्थ लिखे गये । इस काल के समाज में हम प्रथम बार विभिन्न वर्णों के बीच भेदभाव पाते हैं । ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य की पहचान के लिये अलग-अलग प्रकार के यज्ञोपवीत (जनेऊ) का विधान किया गया ।

ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्च मानते हुए उसे देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया । वह समस्त धार्मिक क्रियाओं का नियंता था । उसके बिना कोई भी धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था । वही राजा का पुरोहित होता था । समाज में दूसरा स्थान क्षत्रियों का था जो युद्ध, रक्षा, शासन आदि करते थे ।

कुछ क्षत्रिय शासक, जैसे- जनकादि, अपने दार्शनिक ज्ञान के लिये भी प्रसिद्ध थे । तीसरा स्थान वैश्यवर्ण का था । तैत्तिरीय संहिता में उसका मुख्य उद्यम कृषि तथा पशुपालन बताया गया है । वह याज्ञिक क्रियाओं में भी सहयोग प्रदान करता था ।

समाज के उपर्युक्त तीन वर्णों में हम पारस्परिक सहयोग एवं घनिष्ठता पाते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण में तीनों वर्णों के बीच सहयोग की कामना व्यक्त की गयी है । 'शूद्र' वर्ण को इस समय एक पृथक् वर्ग के रूप में मान्यता मिली ।

उसे तीनों वर्णों का सेवक बताया गया तथा धार्मिक क्रियाओं के अयोग्य घोषित किया गया । किन्तु शूद्रों की स्थिति उतनी निम्न नहीं थी जितनी कि सूत्रों एवं स्मृतियों के काल में हो गयी । उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था । इस काल के कुछ ग्रन्थों में आर्य पुरुष तथा शूद्र कन्या के बीच विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है ।

उत्तरवैदिक काल के कुछ ऋषि शूद्र कन्याओं से ही उत्पन्न हुए थे । इन उल्लेखों से इस वात की सूचना मिलती है कि यद्यपि वर्णों के बीच भेदभाव की भावना का उदय हो गया था तथापि वर्ण व्यवस्था में अभी उतनी जटिलता नहीं आने पाई थी ।

सूत्रों के काल (ई. पू. 600-300) में वर्ण व्यवस्था को सुनिश्चित आधार प्रदान किया गया और प्रत्येक वर्ण के कर्तव्यों का निर्धारण हुआ । राजा को सलाह दी गयी कि वह वर्णधर्म की रक्षा करें । वर्ण का आधार कर्म न मानकर जन्म माना गया तथा ऊँच-नीच की भावना का विकास हुआ ।

विभिन्न वर्णों के लिये दण्डों की अलग-अलग व्यवस्था की गयी । एक ही अपराध में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को अलग-अलग दण्ड मिलता था । ब्राह्मण के अधिकार तथा उसकी सुविधायें बढ़ा दी गयी एवं शूद्रों को अत्यन्त हीन स्थिति में ला दिया गया ।

उसे प्रथम तीन वर्णों की दया पर छोड़ दिया गया तथा उसके समस्त अधिकार एवं सुविधायें जाती रहीं । वशिष्ठ धर्मसूत्र में शूद्र को 'श्मशान के समान अपवित्र' कहा गया है । वह विद्याध्ययन तथा संस्कारों से वंचित हो गया । किन्तु गौतम धर्मसूत्र में 'वार्ता' को शूद्र का वर्णधर्म बताया गया है ।

इससे सूचित होता है कि वे कुछ सीमा तक कृषि भी करने लगे थे । इसी काल में जैन-बौद्ध आदि निवृत्तिपरक सम्प्रदायों का उदय हुआ । इन्होंने जन्मना वर्ण व्यवस्था का विरोध किया तथा उसका आधार कर्म बताया । क्षत्रियों तथा वैश्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ी और अब वे श्रेष्ठता में ब्राह्मणों की बराबरी करने लगे ।

बौद्ध साहित्य क्षत्रिय को ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठतर बताता है । वैश्यों के पास अतुल सम्पत्ति संचित हो गयी । किन्तु शूद्रों की स्थिति यथावत् रही । वे सभी अधिकारों एवं संस्कारों से रहित थे । बौद्ध धर्म ने यद्यपि जाति प्रथा का विरोध किया तथापि उसे विशेष सफलता नहीं मिली ।

महाकाव्यों में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप मिलता है वह उत्तर वैदिक काल जैसा ही है । महाभारत के एक-दो उल्लेखों से प्रकट होता है कि शूद्रों के प्रति कुछ उदार दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा था । विदुर, मातंग आदि कुछ शूद्रों ने इस समय अपने सत्कर्मों से समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया था ।

शूद्र के लिये सीमित पैमाने पर कृषि एवं व्यापार की भी अनुमति दे दी गयी । युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर कुछ शूद्र प्रतिनिधियों को भी आमंत्रित किया था । यह सब इस वात का सूचक है कि शूद्रों के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदल रहा था ।

अर्थशास्त्र में चारों वर्णों तथा उनके कर्तव्यों का निरूपण मिलता है । इससे सूचित होता है कि समाज में वर्णाश्रम धर्म को स्थापित करना राजा का परम कर्त्तव्य था । कौटिल्य ने एक स्थान पर लिखा है 'स्वधर्म का पालन करने से स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है' ।

इसके विपरीत होने पर वर्णसंकरता उत्पन्न होती है जिससे संसार का विनाश हो जाता है (स्वधर्म स्वर्गायानन्त्याय च तस्यातिक्रमे लोक: संकरादुच्छिद्येत) । अत: वह शासक को स्पष्ट आदेश देता है कि वह सभी वर्णों को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त करें ।

धर्मशास्त्रों के समय में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप निर्धारित हुआ वह वाद के समाजों के लिये आदर्श बनी रही । वर्ण को पूर्णतया जन्मना माना गया । स्मृति ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के व्यवसायों एवं कर्तव्यों की व्याख्या मिलती है । परम्परागत चार वर्णों के अतिरिक्त समाज में बहुसंख्यक वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न हो गयीं ।

मनु ने शकों को व्रात्य क्षत्रिय माना है जो धर्मच्युत थे । मनुस्मृति में वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्तों का स्पष्टतः निर्धारण मिलता है । शुंगो के समय में तदनुसार समाज को व्यवस्थित किया गया । किन्तु गुप्त काल तक वर्ण व्यवस्था में नमनीयता बनी रही ।

स्मृतियों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का विधान है तथा प्रथम को मान्यता प्रदान की गयी है । इसमें उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने ठीक नीचे के वर्ण की कन्या से विवाह करता था और यह सम्बन्ध शास्त्रसंगत था । द्वितीय इससे उल्टा था जो निन्दनीय कहा गया है ।

अभिलेखों में भी अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण मिलते हैं । गुप्तकाल के वाद बाह्य आक्रमणों के कारण समाज में अव्यवस्था फैली जिससे वर्ण व्यवस्था को ठोस आधार पर प्रतिष्ठित करने के प्रयास हुए। खान-पान एवं विवाह में कट्टरता आई ।

हर्षकालीन लेखों-मधुबन तथा बंसखेड़ा-से पता चलता है कि प्रभाकर वर्धन ने समाज में वर्णाश्रम धर्म को प्रतिष्ठित किया था । हर्षचरित से पता चलता है कि हर्ष वर्णाश्रम धर्म का पोषक था । राजपूत युग तक आते-आते परम्परागत वर्ण विभिन्न उपजातियों में विभक्त हो गये । अस्पृश्यता की भावना का पूर्ण विकास हुआ जिससे छुटकारा पाने के लिये हिन्दू समाज आज तक छटपटा रहा है ।

आश्रम (मानव अवस्थाएँ)

वास्तव में आश्रम जीवन की वे अवस्थाएँ हैं, जिनमें मनुष्य श्रम, साधना और तपस्या करता है और एक अवस्था की उपलब्धियों को प्राप्त कर लेता है तथा इनसे विश्राम लेकर जीवन के आगामी पड़ाव की ओर

प्रस्थान करता है।

आश्रम व्यवस्था ने ईसा के बाद पहली शताब्दी में एक धर्मशास्त्रीय ढाँचे की रचना की। यह ऊँची जाति के पुरुषों के लिए आदर्श थी, जिसे वस्तुत: व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से कभी-कभी ही प्राप्त किया जा सकता था। दूसरे अर्थ में आश्रम शब्द का तात्पर्य शरणस्थल है, विशेषकर शहरी जीवन से दूर, जहाँ आध्यात्मिक व योग साधना की जाती है। अक्सर ये आश्रम एक केन्द्रीय शिक्षक या गुरु की उपस्थिति से सम्बद्ध होते हैं, जो आश्रम के अन्य निवासियों की आराधना या श्रद्धा का केन्द्र होता है। गुरु औपचारिक रूप से संगठित क्रम या आध्यात्मिक समुदाय से सम्बन्धित हो भी सकता है और नहीं भी। सम्पूर्ण मानवजीवन मोटे तौर पर चार विकासक्रमों में बाँटा जा सकता है-

1. बाल्य और किशोरावस्था
2. यौवन
3. प्रौढ़ावस्था और
4. वृद्धावस्था

चार आश्रम

मानव के चार विकासक्रमों के अनुरूप ही चार आश्रमों की कल्पना की गई थी, जो निम्न प्रकार हैं-

1. ब्रह्मचर्य- इसका पालनकर्ता ब्रह्मचारी अपने गुरु, शिक्षक के प्रति समर्पित और आज्ञाकारी होता है।
2. गार्हस्थ्य- इसका पालनकर्ता गृहस्थ अपने परिवार का पालन करता है और ईश्वर तथा पितरों के प्रति कर्तव्यों का पालन करते हुए पुरोहितों को अवलंब प्रदान करता है।
3. वानप्रस्थ- इसका पालनकर्ता भौतिक वस्तुओं का मोह त्यागकर तप और योगमय वानप्रस्थ जीवन जीता है।
4. सन्न्यास- इसका पालनकर्ता संन्यासी सभी वस्तुओं का त्याग करके देशाटन और भिक्षा ग्रहण करता है तथा केवल शाश्वत का मनन करता है।

आश्रमों का उद्देश्य– महर्षि दयानन्द जी ऋगवेदादि-भाष्यभूमिका में कहते हैं- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिए इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित हैं।

1. **ब्रह्मचर्याश्रम**- आश्रमों की दृष्टि से यह प्रथम है। ब्रह्मचर्याश्रम के सम्बन्ध में ऋषि लिखते हैं – ‘‘विद्या पढ़ने सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिए ब्रह्मचर्य (आश्रम है)’’। ब्रह्मचर्याश्रम में सद्विद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण करना, जितेन्द्रियता से आत्मशक्ति का विकास करना, शारीरिक बल वृद्धि के साथ-साथ विद्या पढना तथा सुशिक्षा ग्रहण करना। यह आश्रम समस्त आश्रमों की नीव हैं। इसकी सुदृढ़ता पर ही जीवन रूपी भवन की भित्ति सुदृढ़ होती है। ब्रह्मचारी शब्द ब्रह्म तथा चारी इन दो

पढ़ो से मिलकर बना है। ब्रहम पढ़ बृहवृहि वृद्धो धातु से निष्पन्न होता हैं जिसका अर्थ बड़ा या महान् है। शरीर में वीर्य, ज्ञान में वेद तथा तत्वों में परमेश्वर सबसे बडा है। चारी शब्द चर गतिभक्षणयोः धातु से णिनी प्रत्यय लगने से बनता है। गति के तीन अर्थ है ज्ञान, ब्रहम की प्राप्ति में प्रयत्नशील व्यक्ति। इस ब्रहमचारी शब्द की बहुत से विद्वानों ने अलग-अलग व्युत्पति की हैं यथा ब्रहमचर्यं चरतीति ब्रहमचारी आदि, परन्तु महर्षि दयानन्द कहते हैं- ब्रहमाणि वेदे चरितु शीलं यस्य स ब्रहमचारी।

ब्रहमचर्याश्रम वह अवस्था है जिसमें मनुष्य ज्ञान, बल, भक्ति, यश, तप, स्वाध्याय, को जोड़ने का काम करता है।

2. गृहस्थाश्रम- आश्रमों की दृष्टि से ये दूसरे स्थान पर है इसके विषय में दयानन्द जी कहते हैं- सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ। सारे शास्त्रकारों ने ग्रहस्थाश्रम की प्रशंसा की है। गौतम धर्म सूत्र ने तो कहा है- गृहस्थ सब आश्रमो का मूल है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा- '' इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहस्थाश्रम है। जो यह गृहस्थाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रहमचर्य, वानप्रस्थ, और सन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहस्थाश्रम की निंदा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है।'' परन्तु शास्त्रों ने, ऋषियों ने उसी गृहस्थाश्रमी की प्रशंसा की है, जो नियमित ब्रहमचर्य के पालनपूर्वक विद्याध्ययन के उपरान्त गुण, कर्म, स्वभाव मिलाकर विवाह करके किया जाता है पर आज गुण कर्म स्वभाव तो नही मिलाते बल्कि तो बाल, माल, खाल मिलाते हैं। इसलिए स्वर्गाश्रम गृहस्थाश्रम दुःखों का आश्रम बनता चला जा रहा है। सन्तान उत्पत्ति करना विद्यादि

सद्व्यवहारों को सिद्ध करना धन का संचय करना गृहस्थ के करणीय कर्म हैं।

3. वानप्रस्थ- वानप्रस्थ उसे कहते हैं- गृहस्थस्तु यदापश्येद् वलिपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। (मनु. ६.२) अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि शिर के बाल श्वेत हो गये हैं तथा मुख पर झुर्रियां आ गई एवं पुत्र का भी पुत्र हो गया तब गृहस्थ के कार्यों से उपरत होकर आत्मोन्नति के लिए घर छोड़कर वन को प्रस्थान करे। सामान्यतया मानव जीवन सौ वर्ष का माना गया है आश्रम क्रम से उसके चार विभाग किये गये जो २५-२५ वर्ष के होते हैं। इस क्रम से वानप्रस्थं ५० वर्ष की अवस्था के उपरान्त ही है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं- विचार, ध्यान, विज्ञान, तपश्चर्या करने के लिए वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। वानप्रस्थ के लिए गिरिशयाय'' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं इसकी व्याख्या करते हुए, ऋषि दयानन्द कहते हैं- यो गिरिषु पर्वतेषु श्रितः सन् शते तस्मै वानप्रस्थाय अर्थात् जो वन के समीप वास वाला। आज समाज में वानप्रस्थ की परम्परा समाप्त होने के कारण वृद्धत्व की समस्या बनी हुई है क्योंकि एक छत के नीचे दो बाप नहीं रह सकते। इस समस्या का एक मात्र समाधान वानप्रस्थ ही है इसीलिए पहले नियम था आठ वर्ष वाले घर में नही रहें। आठ वर्ष वाले गुरुकुल पढ़ने जाये और साठ वर्ष

पढ़ाने लगें क्योंकि इनका ज्ञान अनुभवात्मक हो चुका होता है। इस वानप्रस्थाश्रम को समाज में स्थान देने का हमें प्रयत्न करना चाहिए।

4. संन्यास- सन्यास शब्द सम्+न्यास से बना है यहां सम् का अर्थ सम्यक्तया और न्यास का अर्थ त्याग अथवा स्थिर होना। ऋषि दयानन्द कहते हैं- सम्यञ्नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यञ्न्यस्यन्ति दुखानि कर्माणि येन स सन्यासः। सम्यञ्न्यस्यन्ति अधर्माचरणानि येन वा सम्यत् नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स सन्यासः अर्थात् अधर्माचरण, दुष्टकर्मो का त्याग तथा ब्रहम एवं सत्कर्मों में स्थिर होने का नाम सन्यास है। प्राणी मात्र के उपकार के लिए वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार करना, धर्म व्यवहार का ग्रहण करना, दुष्ट व्यवहार का त्याग और सबके संदेह का निवारण करना ही सन्यास के मुख्य कर्त्तव्य हैं। मैत्रेम्युपनिषद में कहा है कि आत्मा, परमात्मा के मिलन का नाम सन्यास है। संस्कारविधि में ऋषि दयानन्द कहते हैं- सन्यास संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण पक्षपात छोड के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारर्थ विचरे ज्ञान और वैराग्य के बिना लिया गया सन्यास दुख का कारण बनता है। सत्यार्थ प्रकाश में दयानन्द जी कहते है-जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों मे सन्यास आश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इसके बिना विद्या, धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्या ग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुस्कर है। सन्यास आश्रम में व्यक्ति लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा का त्यागकरके निःस्वार्थ भाव से समाज के उपकार का कार्य करता है। इस प्रकार चारों आश्रमों का पालन करके जीवन को मंगलमय बनायें और मोक्ष की प्राप्ति करें।

शास्त्रीय पद्धति में मोक्ष (सांसारिक लगावों से स्व की मुक्ति) की गहन खोज जीवन के अन्तिम दो चरणों से गुज़र रहे व्यक्तियों के लिए सुरक्षित है। लेकिन वस्तुत: कई संन्यासी कभी विवाह नहीं करते तथा बहुत कम गृहस्थ ही अन्तिम दो आश्रमों में प्रवेश करते हैं।

पुरुषार्थ

हिन्दू धर्म में **पुरुषार्थ** से तात्पर्य मानव के लक्ष्य या उद्देश्य से है ('पुरुषैर्थ्यते इति पुरुषार्थः')। पुरुषार्थ = पुरुष+अर्थ = अर्थात मानव को 'क्या' प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रायः मनुष्य के लिये वेदों में चार **पुरुषार्थों** का नाम लिया गया है - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसलिए इन्हें 'पुरुषार्थचतुष्टय' भी कहते हैं। महर्षि मनु पुरुषार्थ चतुष्टय के प्रतिपादक हैं।

चार्वाक दर्शन केवल दो ही पुरुषार्थ को मान्यता देता है- अर्थ और काम। वह धर्म और मोक्ष को नहीं मानता। महर्षि वात्स्यायन भी मनु के पुरुषार्थ-चतुष्टय के समर्थक हैं किन्तु वे मोक्ष तथा परलोक की अपेक्षा धर्म, अर्थ, काम पर आधारित सांसारिक जीवन को सर्वोपरि मानते हैं।

योगवासिष्ठ के अनुसार सद्जनो और शास्त्र के उपदेश अनुसार चित्त का विचरण ही पुरुषार्थ कहलाता है।| भारतीय संस्कृति में इन चारों पुरूषार्थो का विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः इन पुरूषार्थो ने ही भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता के साथ भौतिकता का एक अद्भुत समन्वय स्थापित किया है ।

धर्म

प्राचीन काल में ही भारतीय मनीषियों ने धर्म को वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयत्न किया था। धर्म का विवेचन करते समय समझाया गया है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो-

यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (कणाद, वैशेषिकसूत्र, १.१.२)

'अभ्युदय' से लौकिक उन्नति का तथा 'निःश्रेयस' से पारलौकिक उन्नति एवं कल्याण का बोध होता है। अर्थात जीवन के ऐहिक और पारलौकिक दोनों पक्षों से धर्म को जोड़ा गया था। धर्म की इससे अधिक उदार परिभाषा और क्या हो सकती है? धर्म शब्द का अर्थ अत्यन्त गहन और विशाल है। इसके अन्तर्गत मानव जीवन के उच्चतम विकास के साधनों और नियमों का समावेश होता है।

धर्म कोई उपासना पद्घति न होकर एक विराट और विलक्षण जीवन-पद्घति है। यह दिखावा नहीं, दर्शन है। यह प्रदर्शन नहीं, प्रयोग है। यह चिकित्सा है मनुष्य को आधि, व्याधि, उपाधि से मुक्त कर सार्थक जीवन तक पहुँचाने की। यह स्वयं द्वारा स्वयं की खोज है। धर्म, ज्ञान और आचरण की खिड़की खोलता है। धर्म, आदमी को पशुता से मानवता की ओर प्रेरित करता है। अनुशासन के अनुसार चलना धर्म है। हृदय की पवित्रता ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है। धर्म का सार जीवन में संयम का होना है।

अर्थ

मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः । (कौटिल्यीय अर्थशास्त्र)

अर्थात जो भी विचार और क्रियाएं भौतिक जीवन से संबंधित है उन्हें 'अर्थ' की संज्ञा दी गयी है।

धर्म के बाद दूसरा स्थान अर्थ का है। अर्थ के बिना, धन के बिना संसार का कार्य चल ही नहीं सकता। जीवन की प्रगति का आधार ही धन है। उद्योग-धंधे, व्यापार, कृषि आदि सभी कार्यो के निमित्त धन की आवश्यकता होती है। यही नहीं, धार्मिक कार्यो, प्रचार, अनुष्ठान आदि सभी धन के बल पर ही चलते हैं। अर्थोपार्जन मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है। इसी से वह प्रकृति की विपुल संपदा का अपने और सारे समाज के लिए प्रयोग भी कर सकता है और उसे संवर्द्धित व संपुष्ट भी। पर इसके लिए धर्माचरण का ठोस आधार आवश्यक है। धर्म से विमुख होकर अर्थोपार्जन में संलग्न मनुष्य एक ओर तो प्राकृतिक सम्पदा का विवेकहीन दोहन करके संसार के पर्यावरण संतुलत को नष्ट करता है और दूसरी ओर अपने क्षणिक लाभ से दिग्भ्रमित होकर अपने व समाज के लिए अनेकानेक रोगों व कष्टों को जन्म देता है। धर्म ने ही

हमें यह मार्ग सुझाया है कि प्रकृति से, समाज से हमने जितना लिया है, अर्थोपार्जन करते हुए उससे अधिक वापस करने को सदैव प्रयासरत रहें।

शास्त्रों ने अर्थ को मानव की सुख-सुविधाओं का मूल माना है। धर्म का भी मूल, अर्थ है (चाणक्यसूत्र १/२) । सुख प्राप्त करने के लिए सभी अर्थ की कामना करते हैं। इसलिए आचार्य कौटिल्य त्रिवर्ग में अर्थ को प्रधान मानते हुए इसे धर्म और काम का मूल कहा है। भूमि, धन, पशु, मित्र, विद्या, कला व कृषि सभी अर्थ की श्रेणी में आते हैं। इनकी संख्या निश्चित करना सम्भव नहीं है क्योंकि यह मानव जीवन की आवश्यकताओं पर निर्भर करती है। मनुष्य स्वभावतः कामना प्रधान होता है, यह कहना भी गलत नहीं होगा वह कामनामय होता है। इन सभी कामनाओं की पूर्ति का एक मात्र साधन अर्थ है। आचार्य वात्स्यायन 'अर्थ' को परिभाषित करते हुए विद्या, सोना, चांदी, धन, धान्य गृहस्थी का सामान, मित्र का अर्जन एवं जो कुछ प्राप्त हुआ है या अर्जित हुआ है उसका वर्धन सब अर्थ है। (*विद्या भूमि हिरण्य पशुधान्य भाण्डोपस्कर मित्रादि नामार्जन मर्जितस्य विवर्धनमर्थः।)*

काम

महर्षि वात्स्यायन के अनुसार,

श्रोत्रत्ववच्क्षुर्जिह्वा घ्राणानामात्म संयुक्ते नमन साधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्जानुकूल्यतः प्रवृतिः कामः।

स्पर्शविशेषविषयात्तवस्यामिमानिकसुखानुविद्धा।

फलवत्यर्थप्रलीतिःप्राधान्यात्कामःतंकामसूत्रान्नगरिकजनसमवियच्च प्रतिपद्येत।

एषां समवाये पूर्वः पूर्वो मरियान् अर्थस्व राज्ञः। तन्मूलवाल्लोकयात्रायाः। वेश्यायाश्वेतित्रिवर्गप्रतिपतिः।

अर्थात् काम ज्ञान के माध्यमों का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि आत्मा से संयुक्त मन से अधिष्ठित तत्व, चक्षु, जिव्हा, तथा घ्राण तथा इन्द्रियों के साथ अपने अपने विषय - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गंध में अनुकूल रूप से प्रवृत्ति 'काम' है। इसके अलावा स्पर्श से प्राप्त

अभिमानिक सुख के साथ अनुबद्ध फलव्रत अर्थ प्रीतति काम कहलाता है। इसके अलावा अर्थ, धर्म तथा काम की तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि त्रिवर्ग समुदाय में पर से पूर्व श्रेष्ठ है। काम से श्रेष्ठ अर्थ है तथा अर्थ से श्रेष्ठ धर्म है। परन्तु व्यक्ति व्यक्ति के अनुसार यह अलग-अलग होता है। माध्वाचार्य के अनुसार विषयभेद के अनुसार काम दो प्रकार का होता है। इनमें से प्रथम को सामान्य काम कहते हैं। जब आत्मा की शाब्दिक विषयों के भोगने की इच्छा होती है तो उस समय आत्मा का प्रयत्न गुण उत्पन्न होता है। अर्थात आत्मा सर्वप्रथम मन से संयुक्त होती है तथा मन विषयों से। स्रोत, त्वच, चक्षु, जिव्हा तथा घ्राण इन्द्रिय की क्रमशः स्पर्श, रूप, रस, गन्ध में प्रवृत्त होते हैं। काम की इस प्रकृति में न्याय वैशेषिक मत अधिक झलकता है। इसके अनुसार शब्दादि विषयणी बुद्धि ही विषयों

के भोग के स्वभाव वाली बुद्धि ही विषयों के भोग वाली स्वभाव वाली होने के कारण उपचार से कम कही जाती है। अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा विषयों को भोगता हुआ सुख को अनुभव करता है। जो सुख है, सामान्य रूप से वही काम है।

मोक्ष

आत्मा को अमर कहा गया है। यह एक नित्य अनादि तत्व है जो बंधन अथवा मुक्ति (मोक्ष) की अवस्था में रहती है। बद्ध अवस्था में इसे अपने कर्मों के अनुसार इसी जन्म अथवा अगले जन्मों में कर्मफल भोगने पड़ते हैं। मनुष्य के अलावा सभी शरीर मात्र भोग योनि हैं, मानव शरीर कर्म योनि है। योगी सद्गुरु के मार्गनिर्देशन में 'विकर्म' द्वारा अपने शुभ-अशुभ कर्मों से ऊपर उठ जाता है और शरीर रहते ही परमात्मा की प्राप्ति कर लेता है। इसे ही योग (आत्मा एवं परमात्मा का मिलन) कहा गया है। अब वह अकर्म की स्थिति में है और इस शरीर में प्राप्त प्रारब्ध भोग को समाप्त कर लेने के बाद वह अपने शरीर से विदेहमुक्त हो जाता है। उसे अब नया जन्म नहीं लेना पड़ता, वह बंधन से मुक्त हो जाता है। मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का मुख्य उद्देश्य है जो कि मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

संस्कार व्यवस्था

जीवन के साथ संस्कारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है और भारतीय जीवन में संस्कारों का बड़ा महत्त्व है । सरकार शब्द की द्युत्पति 'कृ' धातु में सम उपसर्ग लगाकर की गयी है । इसका अर्थ है-शुद्धि, परिष्कार, सुधार । मन, रुचि, आचार-विचार को परिष्कृत तथा उन्नत करने का कार्य ।

वास्तव में संस्कृति शब्द संस्कार से बना है । इसका अर्थ है-परिमार्जित, परिकृत, सुधारा हुआ, ठीक किया हुआ । इन अर्थो में मानव में जो दोष हैं, उनका शोधन करने के लिए, उन्हें सुसंस्कृत करने के लिए ही संस्कारों का प्रावधान किया हुआ है ।

संस्कारों के द्वारा मानवीय मन को एक विशिष्ट वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर निर्मल, सन्तुलित एवं सुसंस्कृत बनाया जाता है । जीवन में काम आने वाले सत्यवृत्तियों का बीजारोपण भी इन संस्कारों के समय होता है ।

यदि किसी बालक के सभी संस्कार ठीक रीति से समुचित वातावरण में किये जायें, तो उसका व्यक्तित्व सुविकसित होता है । संस्कार पद्धति के द्वारा उसके मनोविकारों का निराकरण कर उसकी सृजनात्मक शक्ति को बढ़ावा देता है । अत: जीवन की बहुमूल्य विशिष्टता, सम्पदा और चरित्र निर्माण का आधार संस्कार है ।

संस्कारों का महत्त्व:

मानव जीवन में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्व है । संस्कारों का सर्वाधिक महत्त्व मानवीय चित्त की शुद्धि के लिए है । संस्कारों के द्वारा ही मनुष्य का चरित्र निर्माण होता है और विचारों के अनुरूप संस्कार; क्योंकि चरित्र ही वह धुरी है, जिस पर मनुष्य का जीवन सुख, शान्ति और मान-सम्मान को प्राप्त करता है ।

संस्कार के द्वारा मानव चरित्र में सदगुणों का संचार होता है, दोष, दुर्गुण दूर होते हैं । मानव जीवन को जन्म से लेकर मृत्यु तक सार्थक बनाने तथा सत्य-शोधन की अभिनव व्यवस्था का नाम सरकार है । संस्कारों का मूल प्रयोजन आध्यात्मिक भी है तथा नैतिक विकास का भी है; क्योंकि मानव जीवन को अपवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने वाले आध्यात्मिक उपचार का नाम सस्कार है ।

श्रेष्ठ संस्कारवान मानव का निर्माण ही संस्कारों का मुख्य उद्देश्य है । संस्कारों के द्वारा ही मनुष्य में शिष्टाचरण एवं सभ्य आचरण की प्रवृत्ति का विकास होता है । इस अर्थ में सर्वसाधारण के मानसिक, चारित्रिक एवं भावनात्मक विकास के लिए सर्वाग सुन्दर विधान संस्कारों का है ।

प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ कुछ गुण और कुछ अवगुण लेकर पैदा होता है । उस पर पूर्व जन्मों के संस्कार भी पड़ते हैं । ऐसी मान्यता हिन्दू धर्म की है । अत: आयु वृद्धि के साथ-साथ उस पर नये सरकार भी पड़ते रहते हैं । अत: पुराने संस्कारों को प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन कर अनुकूल संस्कारों का निर्माण करने की प्रक्रिया सरकार कहलाती है ।

विभिन्न धार्मिक संस्कार एवं उनका स्वरूप:

हमारे भारतीय धर्म के अनुसार सोलह (16) संस्कारों द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का परिष्कार किया जाता है । जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति के सोलह (16) संस्कारों में शामिल हैं: गर्भाधान संस्कार, पुंसवन, सीमांतोयंत्रन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन विवाह सरकार, अंत्येष्टि ।

1. गर्भाधान संस्कार: यह बालक के जन्म के पूर्व का संस्कार है । गर्भाधान संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले नवदम्पत्तियों के लिए पारिवारिक दायित्व को संभालने हेतु पूर्व शिक्षण है । इस सरकार में यह बताया जाता है कि आने वाली जीवात्मा परमात्मा का स्वरूप एवं प्रतिनिधि है ।

उसे आमन्त्रित करने के लिए अपनी योग्यता, साधन और परिस्थितियों का आकलन नवदम्पत्ति कर ले । आर्यपुराष अपनी स्त्री के समीप सुसन्तान उत्पन्न करने के हेतु निश्चित उद्देश्य लेकर पवित्र भाव से जाये, जो भावी सन्तान को निर्मल बनाये ।

2. पुंसवन संस्कार: गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास के लिए गर्भिणी द्वारा सम्पन्न किया जाता है । यह तब किया जाता है, जब बालक के भौतिक स्वरूप का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है । कुछ ऋषियों द्वारा यह संस्कार प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात बजार करना चाहिए ।

पुसवन संस्कार से गर्भ पवित्र हो जाता है । इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के दाहिने नासिका छिद्र में वटवृक्ष की छाल का रस श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिए छोड़ा जाता है । इसके पश्चात् गर्भपूजन करने के बाद परिवारजन श्रेष्ठ मन्त्रों का उच्चारण करते हैं । गर्भिणी नियमित रूप से पांच आहुतियां खीर अर्पित कर यज्ञ कुण्ड को देती है तथा विशेष मन्त्रों का उच्चारण करती है ।

3. सीमांतोन्नयन संस्कार: यह तीसरा संस्कार है । यह छठे तथा आठवें मास में किया जाता है ।

4. जातकर्म संस्कार: जन्म के तुरन्त बाद सम्पन्न होता है । नाभि बन्धन से पूर्व वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ यह सम्पन्न होता है ।

5. नामकरण संस्कार: शिशु कन्या है या कि पुत्र, इसका भेद न करते हुए यह संस्कार किया जाता है । इसके द्वारा शिशु की मौलिक तथा कल्याणकारी प्रवृत्तियों को जगाने हेतु यह प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है ।

सामान्यत: यह जन्म के दसवें दिन यज्ञ कर्म के द्वारा सम्पत्र होता था ।

जन्म के बाद प्रसूता का शुद्धिकरण भी हो जाता था । सभी उपस्थित व्यक्ति कलश में जल लेकर अभिषेक के द्वारा शिशु पर श्रेष्ठ संस्कारों के प्रभाव की कामना करते हैं । शिशु की कमर पर मेखला इस आशा से बांधी जाती है कि नवजात शिशु निष्ठा की दृष्टि से सदैव सजग रहे । अभिभावक शिशु की कमर पर मेखला बांधकर उसके संरक्षण के प्रति तथा उसे जीवन-भर दोष, दुर्गुणों से बचाये रखते हैं ।

शहद चटाकर मधुर भाषण का सैक्सर इसी में समाहित है । इसके पश्चात् शिशु को सूर्य का दर्शन कराकर उसको प्रखर एवं तेजस्वी बनाने की कामना के साथ राष्ट्र के प्राप्ति भी निष्ठावान बनाये रखने का शिक्षण दिया जाता है । इसके पश्चात् सज्जित थाली में लिखा नाम सभी को दिखाते हुए आचार्य मन्त्रोच्चारण के साथ उसके नामन की घोषणा कहते हैं । उसे चिरंजीवी, धर्मशील एवं प्रगतिशील होने का आशीर्वाद देते हैं ।

6. निष्कमण संस्कार: निष्क्रमण का तात्पर्य है: घर से बाहर निकालना । इस संस्कार में कोई वयोवृद्ध कोका बच्चे को गोदी में लेकर उसे बाहर का खुला वातावरण दिखाता है, ताकि बालक विराट ब्रह्मरूपी संसार को समझे। उसे सूर्य का दर्शन भी करवाया जाता है ।

7. अन्नप्राशन संस्कार: यह शिशु के छठे मास में किया जाता है । उसे प्रथम अन्नाहार ग्रहण करमे के बाद यह भावना की जाती है कि बालक सदैव सुसंस्कारी अत्र ग्रहण करे । सुपाच्य खीर, मधुरता का प्रतीक मधु, रनेह का प्रतीक घी, विकार नाशक पवित्र तुलसी तथा पवित्रता का प्रतीक गंगाजल का

सम्मिश्रण प्रत्येक विशिष्ट मन्त्रोच्चार के द्वारा भगवान् तथा यज्ञ के प्रसाद के रूप में बच्चे को खिलाया जाता है । सात्विक आहार ग्रहण करने से उसका समरारा चिन्तन सतोगुणी बनेगा ।

8. चूड़ाकर्म: चूड़ाकर्म सरकार के साथ शिखा की तथा यज्ञोपवीत (उपनयन) के साथ सूत्र की स्थापना को भारतीय संस्कृति का आधार माना जाता है । जहां शिखा संस्कृति की गौरव पताका का प्रतीक है, वहीं सूत्र विशिष्ट संकल्पों एवं व्रतों का प्रतीक है ।

जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व यह सम्पन्न होता है । हिन्दू धर्म में यह मान्यता है कि मनुष्य कई योनियों में भटककर मानव योनि प्राप्त करता है । अत: उसके अनुपयुक्त एवं अवांछनीय संस्कारों का निष्कासन बालक के समुचित मानसिक विकास हेतु आवश्यक है । मुण्डन सदा किसी तीर्थस्थान या देवस्थान पर किया जाता है, ताकि सिर से उतारे गये बालों के साथ कुसंस्कारों का शमन हो सके । आयुर्वेद के आचार्य चरक के अनुसार-श्मश्रु तथा दाढ़ी, मूंछ व नखों को काटने के पीछे यही संस्कार है । शिखा स्थान पर बालों का गुच्छा व्यक्ति की कुप्रवृत्तियों पर अंकुश रखता है ।

मुण्डन विधान में बालक के बालों को गौदुग्ध, दही में भिगोकर ब्रह्म, विष्णु महेश के प्रतीक के रूप में तीन गुच्छों में कुश तथा कलावे से बांधते हैं । इसका आशय यह है कि शुभ देव शक्तियां सदैव मस्तिष्क तन्त्र का इस्तेमाल करें ।

गायत्री मन्त्रोच्चार के साथ पांच आहुतियां यज्ञ में मिष्ठान्न के साथ दी जाती हैं । यज्ञशाला से बाहर मुण्डन कर बालों को गोबर में रख जमीन में गाड़ दिया जाता है । फिर मस्तिष्क पर स्वस्तिक या ओम शब्द चन्दन या रोली से लिखते हैं ।

9. कर्णवेध संस्कार: इस संस्कार का वर्तमान में कोई विशेष महत्त्व नहीं है ।

10. विद्यारम्भ संस्कार: यह आयु के पांचवें वर्ष में तब सम्पन्न कराया जाता है, जब बालक शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता है । शिक्षा मात्र शिक्षा न रहकर विद्या बने, इसीलिए गणेश व लक्ष्मी के पूजन के बाद विद्या तथा ज्ञानवर्द्धन करने वाले इस संस्कार को सरस्वती का नमन कर पूर्ण किया जाता है । शिक्षा के उपकरण दवात, कलम, कॉपी, पट्टिका को वेद मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर पूजन किया जाता है । विद्यार्थी गुरु को प्रणाम करता है । बालक श्रेष्ठ मानव बने । बालक पट्टी या कॉपी पर लिखता है, तो उस पर अक्षत छुड़वाकर बालक को तिलक लगाकर आशीर्वाद देते हैं । बालक श्रेष्ठ लोकसेवी व नागरिक बने, यही कामना की जाती है ।

11. उपनयन संस्कार: यज्ञोपवीत, अर्थात उपनयन संस्कार दूसरा जन्म है । इस संस्कार में बालक को वैदिक मन्त्रोच्चारों के बीच विधि-विधान द्वारा तीन बंटे हुए धागों की पतली डोरी धारण करवाई जाती है

। इसमें नौ धागे, नौ गुणों (विवेक, पवित्रता, बलिष्ठता, शान्ति, साहस, स्थिरता, धैर्य, कर्तव्य, समृद्धि) प्रतीक माने जाते हैं ।

यज्ञोपवीतधारी इसे मन्त्रोच्चार के साथ कन्धों पर धारण करते हैं और श्रेष्ठ कार्यो का संकल्प लेते हैं । भारतीय संस्कृति में लिंग, जाति, वर्ण आदि किसी भी प्रकार का भेदभाव किये बिना यज्ञोपवीत कराने की बात कही गयी है । यज्ञोपवीत व शिखा के बिना किसी भी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता है ।

12. वेदारम्भ: यज्ञोपवीत संस्कार के साथ प्राचीनकाल में वेदारम्भ की शिक्षा प्रारम्भ होती थी । वेद जीवन विकास, जीवन एवं परिष्कार के महत्त्व को दर्शाते हैं । वेदों की शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व बालक श्रद्धापूर्वक गुरा का पूजन करता है । इसके बाद उससे भिक्षा मांगने की क्रिया पूर्ण करवायी जाती है । इस क्रिया को परमार्थ प्रयोजन के रूप में किया जाता है ।

13. केशान्त संस्कार: सिर के बाल जब उतारे जाते हैं, तब यह सरकार होता है । बालक के केश किसी देवस्थान में उतारे जाते हैं । दूसरे या तीसरे वर्ष में बाल उतारने के बाद शिखाबन्धन होता है ।

14. समावर्तन संस्कार: शिक्षा की समाप्ति पर किया जाने वाला यह सरकार है । यह संस्कार पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला शिक्षार्थी गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर पूर्ण करता है और अपने परिवार, समाज तथा -देश के प्रति सभी कर्तव्यों को पूर्ण करता है ।

15. विवाह संस्कार: हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का एक प्रमुख सरकार है: विवाह संस्कार । विवाह को हमारी संस्कृति में शरीर का ही नहीं, मन तथा आत्मा का पवित्र बन्धन माना जाता है । इस संस्कार के पूर्ण होने पर पति-पत्नी एकसूत्र में बंध जाते हैं तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख में समान रूप से सहभागी होकर जीवनपर्यन्त सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक कर्तव्यों को पूर्ण करने की शपथ लेते है ।

वर-वधू अग्नि के चारों तरफ सप्त परिक्रमा लेते हैं । सप्तपदी के बाद अभिभावकगण कन्यादान करते हैं । पाणिग्रहण, ग्रन्धिबन्धन, सप्तपदी, शिलारोहण, लाजाहोम, शपथ, आश्वासन मांग भरना, (सुमंगली) यज्ञ आहुति जैसे धार्मिक विधि-विधान सम्पन्न होते हैं । वधू पक्ष वाले कन्या की विदाई करते हैं ।

16. अंत्येष्टि संस्कार: मानव शरीर इस संसार की सबसे बड़ी विभूति है । मृत्यु इसकी चिरन्तन गति है । व्यक्ति जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उसकी आत्मा की शान्ति व वातावरण की शुद्धि के लिए हमारी भारतीय संस्कृति में कुछ विशेष संस्कार किये जाते हैं ।

उसे अंत्येष्टि संस्कार कहते हैं । मृतक को इन संस्कारों द्वारा सम्मानपूर्वक विदाई दी जाती है । सर्वप्रथम मृत व्यक्ति को स्नान कराया जाता है । उसके मस्तक तथा शरीर पर चन्दन का लेप लगाया जाता है ।

श्मशान भूमि को गोबर मिट्टी से पवित्र किया जाता है । यज्ञ कुण्ड बनाया जाता है । मृतक शरीर की अंत्येष्टि हेतु वट, पीपल, आम, गूलर, ढाक, शमी, चन्दन, अगर इत्यादि पवित्र काष्ठों की लकड़िया एकत्रित की जाती हैं ।

मन्त्रोच्चार के साथ घी आदि से पांच पूर्णाहूतियां दी जाती हैं । शव का दाह संस्कार करके अंत्येष्टि के साथ पिण्डदान किया जाता है, जो जीवात्मा की शान्ति के लिए होता है । कपालक्रिया के बाद अस्थि, अवशेष एकत्र कर उसे कलश के लाल वस्त्र में लपेटकर किसी पवित्र स्थान गे धार्मिक विधि-विधान से विसर्जित कर दिया जाता है ।

शरीर समाप्त होने के तेरहवें दिन मरणोत्तर संस्कार किया जाता है । यह शोक, मोह की विदाई का विधिवत आयोजन है । मृत्यु के कारण घर में शोक, वियोग का वातावरण रहता है । इन तेरह दिनों में शोक-सन्ताप को विदाई दे देनी चाहिए । मृत्योपरान्त घर की पवित्रता के लिए लिपाई-पुताई की जाती है । पिण्डदान के साथ तर्पण किया जाता है, फिर श्रद्धापूर्वक उसका श्राद्ध किया जाता है ।

इसमें स्वर्गीय पितरों के प्रति भी श्रद्धाभाव प्रकट कर भावी सन्ततियों पर पितरों की कृपा एवं आशीर्वाद मांगा जाता है । हिन्दुओं में वार्षिक श्राद्ध करने की परम्परा है । अत: दिवंगत जीवात्मा की सदगति के लिए अंत्येष्टि संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

भारतीय संस्कृति में, विशेषत: हिन्दुओं में किये जाने वाले इन संस्कारों का आज भी विशेष महत्त्व है । यद्यपि आज की व्यस्ततम जिन्दगी में इन संस्कारों का पूर्ण विधि-विधान से पालन नहीं हो पाता, तथापि हिन्दू कुछ बदले हुए स्वरूपों में इसका पालन करते है । वस्तुत: हिन्दू धर्म के ये संस्कार मानव व्यक्ति के श्रेष्ठ सन्तुलित व्यक्तित्व के निर्माण में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहते हैं ।

आधुनिक सभ्यता के प्रभाव में इन संस्कारों का स्वरूप अवश्य ही बदला है, किन्तु ये संस्कार अपने आदर्शों और श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों एवं विश्वास के कारण आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में थे । ये संस्कार चरित्र निर्माण के प्रमुख आधार कहे जा सकते हैं । भारतीय संस्कार यह बताते हैं कि जीवन मृत्यु के साथ समाप्त नहीं हो जाता ।

संदर्भ ग्रिंथ सूची :-

1. सुष्मिता पांडे : समाज, आर्थिक व्यवस्था एवं धर्म
2. पी०वी० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग-2)
3. E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi
4. https://www.egyankosh.ac.in/Unit-20.
5. प्राचीन भारतीय राज्य एवं समाज, अभिनव सत्यदेव, डा० बाँके बिहारी पाण्डेय
6. भारतीय संस्कृति, डा० दीपक कुमार, पृ० 64

7. मनुस्मृति 6,91-92